विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
मालवा का पौराणिक वैष्णव धर्म एवं प्रतिमाएँ
कल्पना भार्गव

पृष्ठ क्र. 3-4
पुराणयुगीन औषधियाँ और मालवा की चिकित्सा पद्धति
डॉ. मुकेश कुमार शाह

पृष्ठ क्र. 5-6
अखंड भारत के चक्रवर्ती सम्राट विक्रमादित्य
डॉ. रमण सोलंकी

पृष्ठ क्र. 7
गुप्त सम्राटों का शासन साहित्य तथा नव निर्माण का काल
ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 8
महाराजा विक्रमादित्य सीनियर एवं जूनियर फैलोशिप की जानकारी

मालवा का पौराणिक वैष्णव धर्म एवं प्रतिमाएँ

कल्पना भार्गव

भारत के प्राचीनतम धार्मिक सम्प्रदायों में वैष्णव धर्म का विशिष्ट स्थान है। अन्य सम्प्रदायों की ही भाँति वैष्णव धर्म की गणना विशिष्ट सम्प्रदायों के अन्तर्गत एक लोकप्रिय परम्परा के रूप में जीवित है। जिस समय बौद्ध एवं जैन परम्पराएँ भारतीय मानस में एक नई चिंतन धारा को लेकर उदित हुए। लगभग उसी युग में कतिपय भक्तिमार्गी धार्मिक मत ईश्वर जीव सृष्टि आदि शाश्वत प्रश्नों को लेकर ऐसी नवीन अवधारणाओं सहित उभरे जिन्होंने वैदिक दर्शन के आधार पर एक सार्वभौम व्याख्यान धर्म को प्रदान की। इसमें मानव पूजा, उपासना, यज्ञ भोग, तप आदि अनेक साधनों के द्वारा परमतत्व को प्राप्ति का साधन माना गया है। वैष्णव धर्म के पुरोधा विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति विश (प्रवेश करना) अथवा विअश् (व्याप्त करना) धातु से मानी गई है। समस्त संसार में व्याप्त तथा प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट रहने को ही विष्णु कहा जाता है। विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति का निरूपण करते हुए अनेक पुराणों में प्रायः विष्णु के इसी पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। मालवा की कला परम्परा में भी विष्णु और उनसे जुड़े अवतारों का विस्तृत अंकन प्रतिमाओं में किया गया है। विष्णु प्रतिमा के माध्यम से अत्यंत सटीक अर्थों में ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा योग की अवधारणा शिल्प में अभिव्यक्त की गई है। वस्तुतः विष्णु कर्म की व्याख्या है, धर्म की प्रतिष्ठा है तथा गुणों का सागर है। अतः उनका अनंत रूप कर्मों के रूप में विविध प्रतिमाओं के माध्यम से विवेचित किया जा सकता है। वैष्णव धर्म के उद्भव और विकास पर पर्याप्त शोध किया जा चुका है, किन्तु शिल्प के महत्वपूर्ण संदर्भ की दृष्टि से मालवा अंचल की पौराणिक वैष्णव प्रतिमा के विषय में अभी भी अध्ययन अपेक्षित है। वस्तुतः वैष्णव धर्म भारतीय संस्कृति की एक अविरल धारा है। अपनी विकास यात्रा में उसे एक दीर्घ यात्रा से गुजरना पड़ा है, जिसमें अनेक धार्मिक आंदोलनों द्वारा किंचित परिवर्तनों के साथ भारतीय धर्म, दर्शन तथा समाज का एक नवीन मार्ग प्रशस्त हुआ है। इसी के समानान्तर साहित्य कला एवं काव्य की दृष्टि से भी वैष्णव धर्म ने बहुविध संस्कृति को सर्जनात्मक आयाम दिये।

यह भी एक गौरव का विषय है कि वैष्णव धर्म ने ही सर्वप्रथम ग्रीक राजदूत हेलियोदोरस को भी आकर्षित किया। वैष्णव धर्म देश और काल की सीमा से परे एक ऐसा धर्म है जिसने अपर सार्वभौम सिद्धांतों की नींव क्लिष्ट से सहज की ओर तथा प्रभुता से सेवा भावना की ओर रखकर मध्यम मार्ग को अपनाया। वेदों में मूर्ति के लिए 'शिल्प' तथा 'प्रतिमा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त मूर्ति, विग्रह, बिम्ब, प्रतिकृति, प्रतिरूप आदि संज्ञाएँ इसके पर्याय हैं। ऐतरेय आदि वैदिक ग्रंथों में सूर्य को प्रजापति की प्रतिमा से संबोधित किया गया है। दर्शन और पुराण में लिंग शब्द में प्रतिमा का भाव निहित है। उपासना के साकार रूप का निदान–गुण क्रियानुसारेण क्रियते रूप कल्पना। मूर्ति को मूर्त रूप प्रदान करने में सौंदर्य तत्व के साथ मनोगत दर्शन भी विशिष्ट भूमिका का निर्वाह करता है। मूर्ति सृष्टि का प्रथम कौतुक है जिसकी व्याख्या मूर्त आकार से प्रारंभ होकर साकार, निराकार तथा चिदाकार तथ्यों के अन्तर्गत की गई है। मूर्ति चेतना का प्रथम स्फुरण है। आरंभिक देव परम्परा में वैदिक पुरुषसूक्त में विष्णु को सूर्य के रूप में वर्णित किया गया है। मालवा क्षेत्र से उपलब्ध शिल्पाकृतियों की समृद्ध परम्परा में वैष्णव प्रतिमाओं के साथ–साथ विभिन्न आयुधों, वाहनों तथा प्रतीकों आदि का विशेष महत्व है। विशेषकर मालवा के परमारकालीन देवालयों में विष्णु की स्थानक, आसन तथा शयन मूर्तियाँ विपुल संख्या में प्राप्त हुई है। शिल्पशास्त्रीय विवेचन के आधार पर भी इन प्रतिमाओं का विग्रह द्वारा भेद किया जा सकता है। इस संदर्भ में विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं वैखानस आगम में वर्णित प्रतिमाओं का उल्लेख

महत्वपूर्ण है। मालवा की विष्णु प्रतिमाओं का अध्ययन स्वतंत्र तथा अवतारों के अनुरूप निश्चित रूप से सृष्टि के संवाद की प्रथम आचरण संहिता का एक अविभाज्य अंग बनकर उन विशिष्ट कर्मकाण्डों से जुड़ता हैं, जहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य अपने मोक्ष की सुखद कामनाओं से जीवन पर्यन्त उपासना यज्ञ, जप–तप के साथ कर्म की ओर प्रवृत्त होता है। भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि अत्यन्त समृद्ध है तथा भारतीय शिल्प के

विविध आयामों का ऐतिहासिक एवं पौराणिक विवेचन गौरवशाली भारतीय परंपराओं से ज्ञात होती है। सभ्यता के सृजन में मानव ने युग पर्यन्त अपनी कला–प्रतिभा का एक अनुष्ठान के रूप में प्रयोग किया है, फलतः पौराणिक आख्यानों के आधार पर लौकिक से अलौकिक रूपों का सृजन शिल्प की विधा बनकर पल्लवित होता रहा है। अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में अमूर्त यज्ञ (विष्णु) की निदान विद्या से मूर्ति की कल्पना का संकेत मिलता है। अमूर्त की अवधारणा का उद्‌गम वेदों से ही हुआ है। निदान विद्या के आधार पर ही देवताओं के रंगरूप, आयुध, वाहन, भुजा संख्यादि के साथ मुख लक्षण और गुण भेदादि ज्ञात होते है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण, पाँचरात्र, आगम ग्रंथों, तंत्रराज तंत्र इत्यादि में सहेतुक भेदादि का रहस्यपूर्ण निदान वर्णित है। वैदिक साहित्य एवं पुराण भारत के सांस्कृतिक विकास के अध्ययन हेतु प्रमुख स्रोत है। प्रतिमाओं एवं देवालय के रचनाक्रम में वैदिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, दृष्टिकोणों का समावेश रहा है। एक ही देवता के अनेक रूपाकार नाम, भेद तथा लक्षण भेद विविध मूर्तियों के रूप में परिलक्षित होते हैं। भारतीय सांस्कृतिक चेतना ही निर्विकार अथवा सविकार रूपों में मूर्ति से प्रामाणित होती है। जो कला रूप में सजीव हो उठती है। भारतीय प्रतिमा की स्थापना की भाषा में मूर्तियाँ कला और सौंदर्य से जीवन्त हो उठती है, और उनमें प्राण–प्रतिष्ठा हो जाती है। 182 श्लोकों में वामन के द्वारा बलि से पृथ्वी के छीने जाने की कथा का वर्णन किया है। विष्णुपुराण में विष्णु के सर्वप्रसिद्ध वामन अवतार का उल्लेख मिलता है। श्रीमद्‌भागवत के अष्टम स्कन्ध में तो 16 से लेकर 23वें अध्याय तक पूरे 297 श्लोकों में विष्णु के इस अवतार की कथा कही गई है। मत्स्यपुराण में विष्णु के वामन अवतार के साथ अन्य देवी की स्थिति बताई गई हैं। ब्रह्मपुराण (73वाँ अध्याय) में भी वामन अवतार का वर्णन किया है। विष्णु के यज्ञ–वराहरूप का वर्णन मत्स्यपुराण तथा वायुपुराण में भी किया गया है विष्णु के वराह अवतार की इस कथा के अत्यन्त सूक्ष्म अंकुर ऋग्वेद में प्राप्त होता है, किन्तु पुराणों का यह रूप उस मूल से बहुत अधिक कलात्मक समीक्षा की दृष्टि से मालवा की वैष्णव मूर्ति के लक्षण, आयुध, वाहन, आसन, स्थितियाँ, अलंकरण अथवा उनका पौराणिक आख्यानों से संबंधी विचारणीय है। विष्णु के संदर्भ में इच्छाशक्ति प्रधान स्वरूप केशव का है। ज्ञानशक्ति प्रधान वासुदेव नारायण है। क्रियाशक्ति प्रधान वासुदेव माधव है। मूर्तियों के विवेचन कलागत, शैलीगत तथा शिल्पगत संदर्भों के अनुरूप समीक्षित किये जा सकते है। कला के अनुष्ठान की दृष्टि से विष्णु प्रतिमाओं के अध्ययन में केशवादि द्वादश मूर्तियाँ ही सम्वत्सर के बारह मास की प्रतीक है और इनका मनन–चिंतन की द्वादशत्तर मंत्र है। कालान्तर में यही शक्तियाँ अन्य शक्तियों से समन्वित होकर चौबीस हो जाती है। शतपथ ब्राह्मण में देवताओं और असुरों के मध्य यज्ञ स्थान के चुनाव पर उत्पन्न विवाद की कथा वर्णित है, जिसमें असुरों ने वामन के आकार तुल्य पृथ्वी देना स्वीकार कर लिया। विष्णु रूपी वामन ने पृथ्वी पर शयन कर अपने आकार को इतना विस्तृत कर लिया कि समस्त पृथ्वी ढक गई और देवताओं को प्राप्त हो गई। इसी ग्रंथ के अनुसार कर्म का रूप धारण कर प्रजापति ने संतानोत्पत्ति की थी और वराह रूप में उसने पृथ्वी को समुद्रतल से ऊपर उठाया था। तैत्तिरीय आरण्यक, कठोपनिषद आदि ग्रंथों में विष्णु की प्राचीनता का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक विष्णु के वराह अवतार के विषय में ज्ञात होती है।

महाभारत और रामायण प्रारंभ में पुराकथित चरित्रों की वीरतापूर्ण कथाओं से सम्बद्ध लोकप्रिय काव्य के रूप में रचे गये थे। अपने वर्तमान स्वरूप में वैष्णव कथाओं के उपदेशों का मुख्य कोश है, साथ ही ये अब धार्मिक मान्यता भी अर्जित कर चुके हैं। वैष्णव उत्स के रूप में दूसरे महाकाव्य महाभारत का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि यह भक्तिमूलत धार्मिक सम्प्रदायों के उद्‌भव तथा वासुदेव, कृष्ण, नारायण एवं विष्णु का सांप्रदायिक परिचय प्रस्तुत करने वाला प्राचीनतम ग्रंथ है। मालवा की कलात्मक वैष्णव प्रतिमाओं के अध्ययन क्रम में प्रमुख स्रोत में पुराणों की सहायता ली गई है, जिनमें विष्णु के विभिन्न स्वरूपों व धार्मिक प्रतिष्ठा का संकेत मिलता है तथा उन्हें विश्व की परमात्मा शक्ति कहा गया है।

पुराणयुगीन औषधियाँ और मालवा की चिकित्सा पद्धति

डॉ. मुकेश कुमार शाह

पुराणों का मुख्य उद्देश्य धार्मिक विषयों का विवेचन करना ही हैं और अधिकांश पुराणों को इसी दृष्टिकोण से लिखा गया है, किन्तु अग्निपुराण इस दृष्टि से अपवाद स्वरूप है। इस पुराण में औषधि विज्ञान का विशद वर्णन किया गया हैं। साथ ही गरूड़पुराण में भी औषधि शास्त्र की जानकारी मिलती है। अतः प्रस्तुत लेख में उपर्युक्त दोनों पुराणों में उल्लेखित चिकित्सा कर्म को कतिपय व्याधियों के साथ उद्घाटित करने के साथ–साथ मालवा में 11वीं शताब्दी तक प्रचलित चिकित्सा परंपरा में उत्तरोत्तर किस प्रकार विकास होता गया, इसका तुलनात्मक अध्ययन महर्षि पतंजलि के महाभाष्य, कालिदास के ग्रंथों, अमरसिंह का अमरकोष, वराहमिहिर की बृहत्संहिता, तथा भोजराज के राजमृगांक, शालिहोत्र आदि ग्रंथों से किया जा रहा है, जो महत्वपूर्ण हो जाता है। वस्तुतः अग्निपुराण जिस समय लिखा गया उस समय देश और समाज में जितनी विधाओं और समाजोपयोगी पेशों का प्रचलन था, उन सबका काम–चलाऊ परिचय देने का प्रयत्न पुराणकार ने किया है, किन्तु समय परिवर्तित हो जाने के फलस्वरूप इन तथ्यों का महत्व पहले जितना नहीं रहा तथापि उनका उपयोग आवश्यकता पड़ने पर कर सकते है। इन पुराणों में कुछ ऐसी भी औषधियों का वर्णन है जो अब उत्पन्न नहीं होती अथवा उनकी जानकारी नहीं है। साथ ही अग्निपुराण में औषधि शास्त्र का जो वर्णन किया गया है वह धन्वन्तरि और सुश्रुत के सम्वाद के रूप में आरंभ किया गया हैं तथा अश्वादि चिकित्सा पर शालिहोत्र के माध्यम से संवाद स्थापित किया गया हैं। इसमें चिकित्सा की समस्त मुख्य विधियाँ बतला दी गई हैं। अग्निपुराण में शरीर शोधन के लिये षट्कर्म का उल्लेख है। ज्वर तथा अन्य रोगों के पथ्य पदार्थों का भी अच्छा वर्णन किया गया है। इसमें प्रायः जड़ी–बुटियों और वनस्पतियों से ही चिकित्सा बताई गई है। इस पुराण में न केवल शारीरिक व्याधियों का वर्णन किया है, अपितु मानसिक, आगंतुक तथा सहज व्याधियों का भी वर्णन किया गया है और उनकी चिकित्सा भी बतलाई गई है। अग्निपुराण में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह ज्ञात होता है कि इसमें सूचि अर्थात् इंजेक्शन द्वारा उपचार का भी वर्णन आया है, विशेषकर बलिकर्म और सुतिका हेतु जिसका उद्देश्य प्राणियों की रक्षा करना है। अग्निपुराण में राजयक्ष्मा के रोगियों को भोजन के रूप में क्या लेना चाहिये उसका वर्णन किया गया है जिसमें यवान्न की विकृति, मूँग, कुलत्थ, पुरानी शालि, तिक्त, (रूखें) हरे शाक, तिल, शिग्रुक, विभीतक, इंगदी का तेल, मूँग और जौ के साथ गेहूँ धान्य जो कि एक वर्ष तक रखे हुए हो तथा जांगल का रस प्रमुख बताया है। गरुड़पुराण में यक्ष्मारोग निदान अध्याय के अंतर्गत कहा गया है कि यक्ष्मा राजयक्ष्मा रोग रोगों का राजा हैं इससे रसादि सभी का पूर्णतया शोषण हो जाता है। इसी कारण इसे शोध भी कहते हैं। साथ ही इसके उत्पन्न होने के चार कारण भी बताये गये है। किन्तु यह भी कहा गया है कि यह रोग अत्यंत कठिनाई से साध्य होता है। इसी प्रकार अग्निपुराण के मृतसंजीवनकर सिद्धयोग अध्याय में क्षय रोग के मर्दन हेतु उल्लेख आया हैं कि शटीकुनाग वलय का क्वाथ (काढ़ा), क्षीर रस (दूध) से युक्त, प्यस्या, पिप्पली और वासा (अडूसा) का सिद्ध हुआ कल्क, क्षय रोग में लाभदायक होता है। गरुड़पुराण में क्षय रोग किया के निदान पर उल्लेख आया है कि शर्करा और मधु (शहद) से समन्वित नवनीत की बली को चाटने से तथा क्षीर का पान करने से क्षय रोगी पुष्टि को प्राप्त होता है। साथ ही वह अतुलमेधा (बुद्धि) का भी लाभार्थी हो जाता है। इसके अतिरिक्त कुलीर का चूर्ण क्षीर के साथ पीने पर भी क्षय का नाश हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में जब हम मालवा के साहित्य का अध्ययन करते हैं तो पाते है कि महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में अनेक रोगों का वर्णन किया है तथा विभिन्न रोगों का कारण वात, पित्त और कफ का दूषित होना। कालिदास ने अपने ग्रंथ रघुवंश में राजयक्ष्मा नामक प्राणघातक बीमारी का वर्णन किया है जो कि वैद्यों के समस्त प्रयासों को व्यर्थ कर देती थी, क्योंकि वह एक असाध्य रोग था। कालिदास ने इस रोग के लक्षणों का वर्णन किया है, जिसके अंतर्गत शरीर का पीला पड़ना, दुबला होना, बोली धीमी हो जाना, चलने में असमर्थ होना, बताया गया है तथा इसका एक कारण अत्यधिक भोग विलास को भी बताया गया है जिससे यह रोग धीरे–धीरे बढ़ने लगता है। कालिदास के ग्रंथों में विभिन्न व्याधियों का उल्लेख है तथा उसमें उपचार भी बताया गया है किन्तु राजयक्ष्मा का उपचार का उल्लेख नहीं है। कालान्तर में मालवा के राजा भोज ने अपने ग्रंथ राजमार्तंड में राजयक्ष्मा का उपचार बताया है। बकरी के दूध के साथ लेने से क्षय रोग नष्ट हो जाता है। नील

की जड़ का चूर्ण गाय के दूध के साथ लेने से भी क्षय रोग का नष्ट होना बताया गया है। इस प्रकार क्षय यक्ष्मा राजयक्ष्मा अथवा शोध के अनेक उपायों का वर्णन आयुर्वेद के अतिरिक्त पुराण व मालवा के प्राचीन साहित्य में मिलते है। इसी प्रकार अग्निपुराण तथा गरूड़पुराण में सर्पदंश के अनेक उपाय बताये गये है। इसमें कहा गया है कि जिस व्यक्ति को सर्प ने काट खाया हो उसे नीम के पत्ते खिलाना बहुत हितकर होता है। इसके अतिरिक्त तण्डुलीय त्रिवृत के मूल को घृत के साथ पीने से सर्प के विष को, चाहे वह कितना ही सबल क्यों न हो शीघ्र नष्ट कर देता है। वहीं गरूड़पुराण में सर्प और बिच्छू के विष का हरण करने के लिये ऊँ हूँ जः मंत्र बताया गया है। साथ ही पीपल, नवनीत, श्रृंगवेर, सैंधव, कालीमिर्च, दधि, कुष्ठ इनको नस्य करने व पान करने से भी विष का हरण होना बताया गया है। इसके अतिरिक्त त्रिफला (हर्र, बहेड़ा और आँवला), आर्दक (अदरक), कुष्ठ तथा चंदन को घृत से संयुक्त करके इसके लेपन और पान से भी विष का नाश होना बताया गया है। त्र्यूषण चूर्ण, दधि और मधु को घृत से संयुक्त करके लेप करने से बिच्छू के विष का नाश हो जाता है। इसी प्रकार प्राचीन मालवा के साहित्य में भी विषौषधि का वर्णन मिलता है। पतंजलि ने महाभाष्य में यद्यपि सर्प, बिच्छू दंश की चर्चा नहीं की हैं किन्तु विष बनाने की विधि का वर्णन उन्होंने अवश्य किया हैं, जो कि प्रतिविष के लिए भी प्रयुक्त होती थी यथा–जीव–जंतुओं से मुक्ति, राजनीति में प्रतिस्पर्धी को समाप्त करने के लिए भोज्य एवं पेय पदार्थों में विव मिलाकर उनका अन्त करने के लिए। इसके लिए अनेक प्रकार के विषैले पेड़–पौधों का उपयोग कर उनका चूर्ण बनाकर अथवा आसवन के द्वारा उन्हें द्रवित करने की विधि का प्रयोग पतंजलि युग में प्रचलित अवश्य था। साथ ही इन तत्वों की अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा का प्रयोग शारीरिक व्याधियों को दूर करने तथा शरीर जो विष प्रतिरोधी बनाने में भी प्रयुक्त होता था। कालिदास ने अपने ग्रंथ मालविकाग्निमित्रम् में विष–विज्ञान को अगदतंत्र के नाम से अभिहित किया है। साथ ही कालिदास ने भूत विद्या (मंत्रोच्चार चिकित्सा) का वर्णन करते हुए कहा है कि जब सर्पदंश के कारण विष शरीर में फैलता है, तो शरीर के अंगों में जकड़न उत्पन्न होती है, सिमसिमायन्तिमेअंगानि। अतः विष को उतारने में उदकुंभविधान का उल्लेख किया गया हैं, जिसके अंतर्गत पानी के घड़े के सहारे किसी वस्तु संविष उतारते हैं जिसमें नागमुद्रा जड़ी हो अर्थात् नाग की आकृति उस वस्तु में हो। इस विधान में मंत्रोच्चार करके सर्पदंश उतारा जाता था। सर्पदंश की चिकित्सा में जिस अभिमंत्रित जल का प्रयोग किया जाता था उसके लिए। शीतक्रिया शब्द का प्रयोग कालिदास ने किया है। साथ ही निर्देश भी दिया है कि ऐसे रोग में ठण्डक ही अच्छी होती है तथा कुछ समय तक धूप से बचना चाहिए। इसी से जुड़े अगदतंत्र का भी कालिदास ने वर्णन किया है, जिसके अंतर्गत सर्पदंश जैसे प्राणघातक विष का उपचार करने के लिए विषवल्लियों के मध्य उत्पन्न संजीवनी महौषधि का प्रयोग करना चाहिए। अमरसिंह ने अमरकोष में विषहीन तथा विषयुक्त सर्पों की विभिन्न श्रेणियों का वर्गीकरण किया हैं, यथा–नाग, काद्रयेव, शेष, अनन्त, वासुकि, गोनस, तिलित्सपनस, अजगर (शयु, वाहस), अलगर्द, डोंड, राजिल, द्विमुखी, सर्प आदि। साथ ही विष के विभिन्न नामों के साथ विष वैद्य का नाम भी अमरकोष में मिलता हैं, जिसे जांगलिक कहा गया है। स्पष्ट है कि 5–6 ईसवी तक न केवल विषधारी सर्पों सहित अन्य सर्प जातियों की पहचान हो चुक थी। अपितु विष चिकित्सा भी खासी प्रचलित थी। परमारकाल में भी भोज ने विषोपचार पर गहन गंभीर प्रकाश डाला है, जिसके अंतर्गत विभिन्न प्रकार के सर्पदंश, वृश्चिक–दंश, मत्स्य–दश इत्यादि की औषधियों का वर्णन किया हैं। पातालगरूड़ी की जड़ जल में घिसकर सेवन करने से, आँकड़े की जड़ का चूर्ण ठण्डे जल के साथ सेवन करने से, काकादनी की जड़ कांजी में पीसकर सेवन करने तथा लेप करने से, नील की जड़ का चूर्ण चावल के पानी के साथ लेने से अथवा लज्जावती की जड़ का चूर्ण लेने से सर्पदंश से मुक्ति मिलती है। गरम घी और सैंधव नमक को मिलाकर सेवन करने से बिच्छू के काटने से उत्पन्न हुई निःश्वास, कम्पन, पसीना, जलन व पीड़ा नष्ट होती है। मत्स्यदंश के हरण हेतु उस स्थान को अंकोल के पत्तों से धूपित करने का उल्लेख राजमार्तंड में आया है। ये ऐसी औषधियाँ थी जो राह चलते आसानी से प्राप्त हो जाती थी और तत्क्षण उपचार हो जाया करता था। इस प्रकार पुराणकाल से लेकर परमारकाल तक विष विज्ञान में अनेक प्रयोग होते गये और उनका विकास भी होता गया। अग्निपुराण में अर्श का उल्लेख हैं इसके लिये कहा गया है कि भोजन में रक्तशाली, नीवार कलम, यवान्न की विकृति, सौवर्चल, शटी, जल के सहित तक्र और मंड अर्श के रोगियों के लिए पथ्य होती है। अर्श के उपचार के विषय में कहा गया है कि पलाश के व्योश गर्भ का तिगुना भस्म जल में साधित करके धृत के साथ पीने पर अर्श नष्ट हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। मालवा के साहित्य के अंतर्गत महर्षि पतंजलि ने भी इस रोग का वर्णन किया हैं तथा अर्श रोगियों को अर्शस कहा है। राजा भोज ने राजमार्तंड में अर्श की अनेक औषधियों का वर्णन किया हैं, यथा जिमीकंद का चूर्ण तथा कूटज की छाल का चूर्ण समान मात्रा में तक्र के साथ सेवन करने से, कड़वी, तूंबी के बीजों का चूर्ण कांजी में पीसकर मस्सों पर लेप करने से अर्श शीघ्र दूर होता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य औषधियों के सेवन करने से भी बवासीर समाप्त होता हैं, जैसे–बिल्व के गूदे का निरंतर सेवन करना, काले तिलों के साथ मक्खन का सेवन करना इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकाल में जहाँ आयुर्वेद का विकास हो रहा था उसका प्रभाव पुराणकारों के अतिरिक्त मालवा के साहित्यकारों पर भी पड़ गया और पुराणकाल से लेकर परमारकाल तक इसमें चमत्कारिक विकास होता क्योंकि पुराणों में औषधिशास्त्र पर जो उल्लेख मिलते हैं, उनका प्रयोग मालवा में न केवल पारंपरिक रूप में मिलता है।

अखण्ड भारत के चक्रवर्ती सम्राट विक्रमादित्य

डॉ. रमण सोलंकी

अखण्ड भारत के चक्रवर्ती सम्राट विक्रमादित्य का मध्यप्रदेश ही नहीं अपितु भारत सहित विश्व के अनेक देशों में समातिकाल में भी याद किया जाता है। जनश्रुति के रूप में उनकी न्यायप्रियता यहाँ के लोकमान्य में प्रारंभिक काल से ही

रही है। विक्रमादित्य से संबंधित अनेक पुरातात्विक अभिलेखीय मुद्रा शास्त्रीय तथा साहित्यिक साक्ष्य प्राप्त होने लगे हैं। जिससे उनकी ऐतिहासिकता प्रामाणिक हुई हैं। विक्रमादित्य ने मालवांचल के स्वतंत्रता प्रेमी योद्धाओं के साथ उज्जयिनी से शकों का उन्मूलन कर 57–57 ई.पू. एक नये युग के प्रतीक कृत–संवत् प्रारम्भ किया था जिसे मालवों ने मालव–संवत् कहा और जो कालांतर में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य से संबंधित घटनायें कालकाचार्य कथानक के अतिरिक्त कथासरित्सागर, वेताल–पंचविशतिका, सिंहासनद्वात्रिंविशका, प्रबंधचिंतामणि, भविष्यपुराण (प्रतिसर्ग पर्व), स्कन्दपुराण के कुमारीका खण्ड में विद्यमान है इसके अतिरिक्त 11वीं शताब्दी में अलबरूनी ने अपने ग्रंथ किताब–उल–हिन्द में भी विक्रमादित्य की चर्चा रसायनाचार्य व्याडि के संदर्भ में कही है। एक स्थान पर उसने उल्लेख किया कि मैंने कश्मीर पंचांग में पढ़ा है कि श्री हर्ष (हर्षवर्धन) विक्रमादित्य के 664 वर्ष बाद हुआ था। इस उल्लेख के आधार पर विक्रमादित्य की तिथि का ज्ञान होता है। हर्ष के शासन का प्रारम्भ 606 ई. माना जाता है और 884 में से 606 घटा दिये जाते तो 58 आता है। यह तिथि विक्रम संवत् की है, इससे स्पष्टतया विक्रमादित्य का शासन काल 58 ई.पू. निर्धारित हो जाता है। विक्रमादित्य के अस्तित्व को लेकर साहित्यिक प्रमाणों की विपुलता है। संस्कृत साहित्य में उससे संबंधित अनेक वर्णन प्राप्त होते है जैसे– कथासरित्सागर व वृहत्कथामंजरी आदि। जैन परम्परानुसार कालकाचार्य कथानक से यह ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व पहली शती में शकों (सीथियन) का मालवा पर आक्रमण हुआ था और उन्होंने उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल की हत्या करके उज्जयिनी पर चार वर्ष तक शासन किया। तत्पश्चात् गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने उन्हें खदेड़कर ईसा पूर्व 57 में अपना संवत् प्रारम्भ किया। विक्रम संवत् 57 ई.पू. प्रचलित हुआ, यह सर्वमान्य है। डॉ. राजवली पाण्डे की पुस्तक 'विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी' जो कि 1954 में बनारस से प्रकाशित हुई थी जिसकी पृष्ठ संख्या 103, 104 पर स्पष्ट है कि गर्दभिल्ल युवक द्वारा शकों को परास्त किया गया। संभवतः यह विक्रमादित्य का प्रथम विक्रमादित्य गर्दभिल्ल वंश में उत्पन्न मालवगण प्रमुख था। मालवगण की राजधानी उज्जयिनी थी तथा प्रथम सदी ईसा पूर्व में विक्रमादित्य उज्जयिनी में शासनरत था। उपरोक्त साहित्यिक प्रमाणों के साथ ही वर्तमान में ऐसे पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध हुए है जिससे विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता उसका तिथिक्रम संवत् तथा नाम संबंधी आदि घटनाओं की प्रामाणिकता की पुष्टि हुई है। शक शासकों को विक्रमादित्य ने पराजित किया तथा विजयोपरांत विजय उपलक्ष्य में संवत् प्रारम्भ कर वह विक्रम उपाधि से विभूषित हुआ था। उज्जयिनी में डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर को मालव नाम गणस्य जय अक्षरांकित अनेक सिक्कें प्राप्त हुए और उन्होंने उज्जयिनी का कृत विक्रमादित्य आलेख में स्पष्ट किया कि इस ओर भी विद्वानों को विचार करना चाहिए, क्योंकि यह मुद्रा पंजाब व अन्य स्थानों से भी प्रकाश में आई है। रेपसन, कार्लाईल, भण्डारकर, महेश कुमार आदि विद्वानों ने इसका काल प्रथम शती ईसा पूर्व माना है। इस प्रकार अनेक मुद्राएँ अश्विनी शोध संस्थान महिदपुर के अध्यक्ष डॉ. आर.सी. ठाकुर के निजी संग्रह में है। शकारि विक्रमादित्य को लेकर यह एक महत्वपूर्ण प्रमाण इतिहास की दृष्टि से हमें प्राप्त हुआ जो विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को सिद्ध करके इतिहास में एक नवीन अध्याय जोड़ेगा। 1975 में विक्रम विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग के कर्मचारी श्री भाटी जी को गढ़कालिका क्षेत्र से प्राचीन मुद्रा सील प्राप्त हुई थी। इस मुद्रा के पीछे उल्टी और बॉस की

छिपटी का निशान था तथा उसे बाँधे हुए धागे का निशान था और सीधी और मध्य में मकार युक्त दण्ड वाला स्वस्तिमक चिह्न तथा चारों ओर शुंगकालीन ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित था। इस मुद्रा का वाचन डॉ. वाकणकर द्वारा किया जाकर यह स्पष्ट हुआ था कि इस पर जो लेख है वह कतस उज्जयिनी है। इस आधार पर उन्होंने इसे रजोसिरी कतस उज्जयिनी माना। डॉ. वाकणकर ने यह माना कि यह मुद्रा कृत संवत्सर प्रारम्भ करने वाले उज्जयिनी के राजा की होगी जिसने शकों को पराजित करने पर विजय स्वरूप कृत संवत्सर और कृत का साथ–साथ उपयोग किया। शकहर्ता विक्रमादित्य एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे तथा उसकी प्राप्त यह मुद्रा उसके ऐतिहासिक अस्तित्व को प्रतिपादित करती है। यह मुद्रा डॉ. वाकणकर के निजी संग्रह में आज भी वाकणकर शोध संस्थान, उज्जैन में सुरक्षित रखी हुई है। एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक प्रमाण के रूप में कावेरी शोध संस्थान के निदेशक डॉ. श्याम सुन्दर निगम के निजी संग्रह में प्रदर्शित है जो उन्हें क्षिप्रा नदी के रामघाट परिक्षेत्र में प्रस्तर शिल्पखण्ड के रूप में प्राप्त हुआ है। इसमें एक अश्व बना हुआ है और यह शिल्पखण्ड ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का है। इस शिल्पखण्ड की प्रामाणिकता तब सिद्ध हुई जब मध्यप्रदेश शासन द्वारा स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग के माध्यम से सन् 2009 में उज्जैन में महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ की स्थापना की गई। शोधपीठ के विद्वानों को अश्विनी शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ. आर. सी. ठाकुर ने विक्रमादित्य की एक स्वर्ण मुद्रा दिखाई जिसके एक और राजा की मुखाकृति तथा दूसरी ओर प्रथम शताब्दी ई. की बाह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा में महाराजा विक्रमादित्य उज्जयिनी लेखयुक्त अंकन होकर चौत्य हस्ती मध्य में वृक्ष और अश्व का अंकन है। इस मुद्रा पर अश्व का जो अंकन है यह अंकन डॉ. श्याम सुन्दर निगम के संग्रह में संग्रहित शिल्पखण्ड जैसा ही है। यह एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक प्रमाण विक्रमादित्य को चक्रवर्ती सम्राट के रूप में प्रस्तुत करता है।

विक्रमादित्य को लेकर प्राप्त पुरातात्विक प्रमाणों की श्रृंखला बढ़ती गई और मंदसौर के समीप अवस्थित अवलेश्वर से प्रसिद्ध स्तम्भावशेष की चौकी के खण्ड भाग में ब्राह्मी अक्षरांकित विक्रमादित्य और दशपुर अक्षरों का वाचन डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित एवं डॉ. जगन्नाथ दुबे द्वारा किया गया है। यह स्थल राजस्थान पुरातत्व विभाग के अधीन है। इस स्थल पर मेरे द्वारा यात्रा की गई। प्राप्त पुरातात्विक प्रमाण के आधार पर प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि अंकित अक्षरों का वाचन हो सका। महिदपुर स्थित अश्विनी शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ. आर. सी. ठाकुर के निजी संग्रह में 100 से अधिक मिट्टी की मुहरें जिन कुतस, श्री विक्रमस, कतस उज्जयिनी मह उज्जयिनी, राज्ञो वीराकम देस मानेस कतस, हरभव विक्रम राजव विकमस, श्री विक्रम आदि शब्द ब्राह्मी लिपि में अंकित पाए गए है। इसी संग्रह में विक्रमादित्य नामांकित 100 से अधिक मुद्राएँ और एक स्वर्ण मुद्रा प्राप्त हुई है। जिस पर विक्रम परवतन्द कदस कतस, राज विक्रमस आदि नामांकित है। विक्रमादित्य के सभासद मूलदेव की सील मूल देवस अंकित भी इस संग्रह से प्राप्त हुई है। उज्जयिनी के प्राचीन इतिहास पर पिछले तीन दशकों में कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गये है। जिनमें सर्वप्रथम के. बी. डोंगरे लिखित इन टच विंथ उज्जैन (1935) था जिसमें नगर का स्कंदपुराण (अवतिखण्ड) वर्णित धार्मिक महात्म्य प्रतिपादित कर ज्योतिष, शिक्षा व विभिन्न राजकुलों के नगर शासन करने का सारांश का भी उल्लेख है। उज्जयिनी पर इस लघु–पुस्तिका में परिचयात्मक पक्ष को धार्मिक महत्ता से उभारा गया था।

लेफ्टिनेंट एडवर्ड कोनोली ने 1837 में आब्जर्वेशन ऑम उज्जैन (रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल अक्टूबर 1837) लेख में महाकाल, हरसिद्धि अंकपात कालियादेह, सिद्धवट व रामजानकी मंदिर की प्राचीनता व पुरावर्णित उल्लेखों से इन संस्थानों तादात्म्य किया, तत्पश्चात् विमलाचरण ला की लघु पुस्तिका उज्जयिनी इन एशिएट इण्डिया 1944 प्रकाशित हुई। पौराणिक परम्पराओं के आधार पर वंशावली व यहाँ का धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीति इतिहास का निर्माण इस ग्रंथ में किया गया था। यह उज्जयिनी के इतिहास पर एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें सम्पूर्ण साहित्यिक स्रोतों का समावेश है। परन्तु पुरातात्विक प्रमाणों में केवल कुछ चिंहित मुद्राओं का साक्ष्य ही नगर इतिहास निर्मित के लिये प्रयुक्त किया गया। जबकि ग्वालियर राज्य पुरातत्व विभाग 1936–39 में वैश्यटेकरी (मौर्यकालीन स्तूप) व कुम्हार टेकरी पर उत्खनन किये जा चुके थे। फिर भी उस ग्रंथ में उत्खनन साक्ष्यों की सहायता नहीं ली गई थी। 1944 से 1948 तक सिधिया ओरिएन्टल इन्स्ट्रटीयूट, उज्जैन द्वारा विक्रमादित्य से संबंधित तीन ग्रंथ विक्रम–स्मृति–पंथ (हिन्दी) विक्रम वाल्यूम (अंग्रेजी), विक्रम–स्मृति (मराठी) में प्रकाशित हुए जिसमें विक्रमादित्य संबंधी प्रश्नों को उठाया गया था।

इसी समय विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी फाउण्डर ऑफ द विक्रम ग्रंथ लिखे गये। जो 57 ई.पू. के काल में हुए विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता स्थापित करते हैं। 1957 में डॉ. सूर्यनारायण व्यास के संपादन में उज्जयिनी दर्शन ग्रंथ प्रकाशित हुआ, जिसमें नगर से संबंधित विद्वान यहाँ की धार्मिक परम्पराएँ व दर्शनीय स्थलों का वर्णन किया गया था। विद्वानों ने उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के पुरावशेषों पर अपनी लेखनी विभिन्न लेखों एवं पुस्तकों के माध्यम से उठाई है।

यहाँ में पुनः पद्मश्री डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर को नमन करना चाहूँगा जिनके प्रारंभिक प्रयासों से उज्जयिनी और उसके आसपास की पुरा सम्पदा को प्रकाशित किया जा सका। मालवा का जन–जन डॉ.वाकणकर के कार्यों से लाभान्वित हुआ है। उन्हीं निरंतर प्रयासों का प्रतिफल ही वर्तमान में अखण्ड भारत चक्रवर्ती सम्राट विक्रमादित्य के पुरातत्वीय प्रमाण को खोजने में सहायक हुए। आज हम गर्व से वीर विक्रमादित्य के अस्तित्व के साहित्यिक प्रमाणों के साथ पुरातत्वीय प्रमाण प्रस्तुत के करने में सफल हुए है।

गुप्त सम्राटों का शासन साहित्य तथा नव निर्माण का काल

ईशान अवस्थी

गुप्त सम्राटों के शासनकाल के तीन सौ वर्षों का समय भारतीय संस्कृति और कला के नव जागरण तथा चरम विकास का स्वर्णयुग रहा है। यद्यपि मौर्यों, शुंग–सातवाहनों और कुषाणों के शासनकाल में भारतीय संस्कृति एवं कला का निरन्तर निर्माण तथा विकास होता रहा और उसमें विश्वजनीन सार्वभौमिकता का दृष्टिकोण उभरता एवं बलवत्तर होता रहा, फिर भी उसका पूर्ण परिपाक और समन्वय गुप्तयुग में ही देखने को मिलता है। गुप्त सम्राट स्वयं भागवतधर्म के अनुयायी परम भागवत होते हुए भी धर्मनिरपेक्ष थे। उन्होंने ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों धर्मों के विभिन्न मतों एवं पन्थों को उनकी निष्ठाओं, परम्पराओं तथा विश्वासों के अनुरूप विकसित होने की समस्त सुविधाएँ प्रदान कीं। उनके इस धार्मिक औदार्य के कारण एक ओर तो देश के विभिन्न भागों में परम्परागत कला–केन्द्रों के पुनर्निर्माण में प्रगति हुई और दूसरी ओर कलाकारों तथा शिल्पियों को अपूर्व प्रोत्साहन प्राप्त होने के फलस्वरूप नयी कला–शैलियों का निर्माण होकर कला के क्षेत्र में एक ऐसी भव्यता, कोमलता और सौष्ठवता का उन्मेष हुआ, जिसके प्रभाव की छाप वृहत्तर भारत के भावी कला–निर्माण और सुदूर एशिया की कला–शैलियों पर एक साथ परिलक्षित हुई।

भारत प्रचलित सभी धर्मों के अनुयायी साहित्यकारों तथा विचारकों को गुप्त शासकों ने प्रोत्साहित किया तथा प्रश्रय दिया और शिक्षा–दीक्षा, चिन्तनदृअनुसन्धान के जितने भी ज्ञान–केन्द्र थे उनके संवर्द्धन में रुचि लेकर उनके नव निर्माण में सक्रिय योगदान किया। उन्होंने बौद्ध मठों, जैन उपाश्रयों और ब्राह्मण मन्दिरों को, जो केवल धर्म के एकांगी आश्रय थे, उन्हें विद्यापीठों के रूप में परवर्तित किया। नालंदा विहार को महाविहार के रूप में परिणत करके उन्होंने उसे विश्वविद्यालय के स्तर पर विकसित एवं प्रतिष्ठित किया, जिसके कारण भारत में ज्ञान के प्रसार को बल मिला और जिसके द्वारा एशिया के सुदूर देशों में भारतीय ज्ञान का आलोक फैला। तीनों धर्मों की दार्शनिक विचारधाराओं के लिए देश की बौद्धिक प्रतिभाओं को राष्ट्रीय सम्मान देकर उनको वे समस्त सुविधाएँ दी, जिनके कारण विभिन्न विषयों की महानतम कृतियों का निर्माण होकर भारतीय वाङ्मय में ज्ञान की नयी शाखाएँ पल्लवित हुई। गुप्तयुग में धर्म, दर्शन, काव्य, महाकाव्य, नाटक, कथा, काव्यशास्त्र ज्योतिष और आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों पर श्रेष्ठ कृतियों का सृजन हुआ। इसी युग में पुराणों तथा धर्मशास्त्रों का पुनःसंस्करण हुआ और अनेक नये पुराण निर्मित हुए। संस्कृत को राष्ट्रभाषा का सम्मानित स्थान देकर गुप्तों ने उसे राजकाज की भाषा बनाया।

साहित्यिक नव निर्माण के साथ–साथ कला की विभिन्न शैलियों का सृजन होकर लोक जीवन उच्चतर नैतिक अभ्युत्थान की ओर तेजी से अग्रसर हुआ। साहित्य के लोक–हितकारी उन्नत ध्येय कला में रूपायित हुए और उन्होंने समाज के जीवन स्तर को उन्नत किया। साहित्य और कला का समन्वय होकर निर्जीव एवं कठोर पाषाण शिलाओं एवं पर्वतों से प्राणदायी जीवनधाराएँ वह निकली। भास, अश्वघोष, कालिदास और भारवि आदि का भावलोक, उन्हीं गहराइयों तथा उसी ओजस्विता एवं सुन्दरता के साथ रेखाओं तथा रंगों में साकार होकर जनता के जीवन में घुल–मिल गया। कवियों ने अपनी रचनाओं में नर–नारी के अंग–प्रत्यंगों के जो सुघर, सुगठित, सुमनोहर एवं सन्तुलित प्रतिमान निर्धारित किये थे, कलाकारों ने तदनुरूप दण्डवत् मुखाकृति, धनुष की वक्रता धारण किये हुए कमानदार भवें, उत्फुल्ल कमल के समान नयन, परिपक्व बिम्बफल की भाँति अधर, कमलनाल की भाँति उँगलियाँ, सन्तों की प्रज्ञा के समान गहरी नाभि–इस प्रकार काव्य की शोभातिशयिता को अभिव्यंजित करने वाले कला–प्रतिमानों को सर्जित किया गया। साहित्य स्रष्टाओं की भाँति कलाकारों की भी नारी सौन्दर्य की अभिव्यंजना में विशेष अभिरुचि रही है। जहाँ तक गुप्तयुगीन कलाकारों द्वारा नारी के रूपांकन का सम्बन्ध है, उसकी अपनी अलग विशेषता है, जो उसे परम्परा से अलग करती है। मथुरा, भरहुत और साँची आदि कला–केन्द्रों में परम्परा से जिन अप्सराओं, वनदेवियों तथा यक्षिणियों की मूर्तियों का निर्माण हुआ वे कटिवस्त्र पहने है। स्वभावतः इन कला–कृतियों का प्रयोजन सम्पूर्ण शरीर के आकर्षण को प्रदर्शित करना रहा है, यद्यपि साथ ही उनके उत्कृष्ट कलात्मक अभिप्राय नितान्त अनुपेक्षणीय हैं। गुप्तयुगीन कलाकारों ने भी मूर्तियों का निर्माण कियाय किन्तु उनका दैहिक सौन्दर्य उत्तेजनात्मक, उत्कट शृंगारिक न होकर प्रांजल और संयत है, क्योंकि उनके निर्माता कलाकारों के समक्ष गुप्त सम्राटों के नैतिक आदर्श भी विद्यमान थे। गुप्तयुगीन अजन्ता की नारी छवियों में यह आदर्श–भाव भरपूर रूप से उभरा है। काव्यगत शारीरिक या आंगिक सौन्दर्ययुक्त ये कला–कृतियाँ वस्तुतः किसी प्रकार की कामुकता तथा संकीर्णता की उद्भावक नहीं है। ध्वन्यात्मकता, भंगिमा और भाव–सौष्ठवता आदि कला के जो अपरिहार्य गुणधर्म हैं, इनके द्वारा ही उनकी यथार्थता को अभिव्यक्त किया गया है। यदि ऐसा न होता तो गुप्त युग की यह कला–थाती इतनी चिरन्तन, लोकप्रिय और ऐसी विश्वव्यापी ख्याति अर्जित नहीं कर पाती। सौन्दर्य एवं चारुता से आप्यायित इन कलाकृतियों में कामुकता की खोज करने वाले रसाभासित अरसिक जिज्ञासु के लिए साथ–साथ शिव द्वारा काम–दहन और बुद्ध द्वारा मार–पराजय के आदर्श भी मूर्तित हुए हैं। भारतीय काव्य और कला में परम्परा से सौन्दर्य में पापवृत्ति की अवधारणा को हेय समझा गया और जीवन के लिए उसकी अनिवार्यता को भी स्वीकार किया गया है।

• महाराजा विक्रमादित्य फैलोशिप •

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा स्थापित तथ्यपूर्ण प्रामाणिक शोधकार्य के लिए वर्ष 2022-23 में
भारतीय नागरिकों से उल्लिखित विषयों में से सीनियर और जूनियर फैलोशिप के लिए प्रस्ताव आमंत्रित हैं-

महाराजा विक्रमादित्य सीनियर फैलोशिप प्रत्येक अध्येता राशि रूपये 4,80,000/-

किन्हीं5 विषयों पर सीनियर फैलोशिप प्रदान की जायेगी। अवधि- 1 वर्ष

1. विक्रमादित्य और पुरातत्व
2. विक्रमादित्यकालीन अभिलेखों का विश्लेषणात्मक अध्ययन
3. प्राचीन भारत में लोक प्रशासन
4. विक्रमादित्य की शासन पद्धति के विभिन्न आयाम
5. जैनेत्तर संस्कृत वांग्मय में विक्रमादित्य
6. वृहत्तर भारत में विक्रमादित्य के साहित्यिक साक्ष्य
7. प्राचीन भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान और उनका आधुनिक विज्ञान में योगदान, वैदिक और अगम स्त्रोतों की समीक्षा
8. पुरातत्व और कला संस्कृति में शिवत्व तथा शिवतत्व
9. सूर्य सिद्धांत रहस्य
10. वैदिक समाज में ऊर्जा व्यवस्था और उसके प्रयोग
11. स्वास्थ्य एवं समृद्धि में ज्योतिष विज्ञान के उपयोग
12. पारंपरिक ज्ञान और मानव विज्ञान
13. भारतीय ज्ञान परंपरा का वैश्विक योगदान

महाराजा विक्रमादित्य जूनियर फैलोशिप प्रत्येक अध्येता राशि रूपये 4,32,000/-

किन्हीं 6 विषयों पर जूनियर फैलोशिप प्रदान की जायेगी। अवधि- 1 वर्ष

1. अवंति जनपद में संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य की जनस्तुतियाँ
2. विक्रमादित्ययुगीन आर्थिक स्थिति
3. प्राचीन भारत में (मध्यप्रदेश के विशेष संदर्भ में) युगयुगीन चरित्र
4. प्राचीन भारत में यंत्र विज्ञान
5. जैन परंपरा में विक्रमादित्य
6. प्राचीन भारतीय स्थापत्य कला
7. प्राचीन भारतीय मंदिर स्थापत्य

पात्रता

■ **सीनियर फैलोशिप (न्यूनतम आयु 35 वर्ष, 1 अप्रैल 2022 की स्थिति में)** -

1. दर्शन, इतिहास, सामाजिक विज्ञान, मानविकी विधाओं, साहित्य अथवा कलाओं में से किसी एक विषय में पीएच.डी. अथवा 2. इतिहास, शिक्षा, संस्कृति, दर्शन या भारतीय साहित्य में अपने योगदान के द्वारा प्रतिष्ठित विद्वान अथवा 3. विश्वविद्यालयीन/महाविद्यालयीन प्राध्यापक अथवा राष्ट्रीय/राज्य स्तरीय ख्याति प्राप्त विद्वान या ऐसे लेखक, संपादक, पत्रकार जिनकी ऊपर संदर्भित विषयों पर दो से अधिक पुस्तकें प्रकाशित या चर्चित हो चुकी हैं, पात्र होंगे। 4. फैलोशिप संबंधित क्षेत्र में विशेष उपलब्धि अर्जित करने अथवा विशेषीकृत अनुसंधान का अनुभव रखने वाले आवेदक को प्राथमिकता दी जायेगी।

■ **जूनियर फैलोशिप (अधिकतम आयु 50 वर्ष, 1 अप्रैल 2022 की स्थिति में)** -

1. दर्शन, इतिहास, सामाजिक विज्ञान, मानविकी विधाओं, साहित्य अथवा कलाओं में से किसी एक विषय में पीएच.डी. उपाधिधारी भी आवेदन कर सकते हैं अथवा 2. कोई युवा/उदीयमान स्तरीय लेखक, पत्रकार, जिनके लेख चर्चित हो चुके हों, भी पात्र होंगे। अथवा 3. संबंधित क्षेत्र में विशेष उपलब्धि अर्जित करने अथवा विशेषीकृत अनुसंधान का अनुभव रखने वाले आवेदक को प्राथमिकता दी जायेगी।

आवेदन-पत्र का प्रारूप

1. नाम 2. स्थायी पता 3. जन्म तिथि 4. जन्म स्थान 5. पासपोर्ट आकार के दो फोटोग्राफ 6. भारत में निवास की अवधि 7. रोजगार की स्थिति 8. शोध प्रस्ताव (सीनियर- लगभग 2500-3000 शब्दों में कम्पोज किया हुआ, जूनियर- लगभग 500-1000 शब्दों में कम्पोज किया हुआ) 9. फैलोशिप की अवधि में किये जाने वाले कार्य का शीर्षक एवं विवरण 10. सम्बन्धित क्षेत्र में योगदान एवं अनुभव 11. ऐसे दो सम्मानित विद्वानों के संदर्भ (नाम एवं पता) जिन्हें नामांकित व्यक्ति की योग्यता/कार्य की जानकारी हो।

आवेदन-पत्र भेजने की अंतिम तिथि- 30 अप्रैल 2023

आवेदक को अपना आवेदन 30 अप्रैल 2023 तक निदेशक, महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, 1 उदयन मार्ग, उज्जैन- 456010, दूरभाष- 0734-2521499 अथवा सचिव, महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, रवीन्द्र भवन परिसर, भोपाल- 462003, दूरभाष- 0755-2990794, 2660563, 2660407, 2660361 को आवश्यक रूप से भेजे जायें। अधिक जानकारी एवं फैलोशिप से जुड़े नियम व शर्तों के लिए वेबसाइट पर जायें।

स्वराज संस्थान संचालनालय
महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन
E-Mail : vikramadityashodhpeeth@gmail.com, **Website** : www.mvspujjain.com, www.swarajsansthan.org

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.
आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com